आचार्य हरिभद्र सूरि और उनका योग-विज्ञान

☐ डॉ. हरीन्द्रभूषण जैन

(मंगलाचरण)

नमिऊण जोगिनाहं सुजोगसंदंसगं महावीरं ।
वोच्छामि जोगबद्धं हरिभद्दमुणिंदविण्णाणं ।।

अर्थात्—योगियों के स्वामी एवं उत्तम योग-मार्ग को दिखाने वाले भगवान महावीर को नमस्कार करके मैं हरिभद्र मुनीन्द्र के योग से संबद्ध विज्ञान का विवेचन करता हूँ।

आचार्य हरिभद्र सूरि और उनका वैदुष्य

आचार्य हरिभद्र सूरि, उन पुरातन चिन्तकों में से एक हैं जिन्होंने अपनी प्रतिभा और ज्ञान से भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति एवं साहित्य के क्षेत्र में महनीय योगदान किया है। वे आगम-रहस्यज्ञाता, प्रतिभाशील तार्किक, प्रकाण्ड न्यायविद्, क्रान्तदर्शी साधु एवं अद्भुत कथाकार तो हैं ही, उनका भारतीय तुलनात्मक योगज्ञान भी सातिशायी है।

आचार्य हरिभद्र एक ऐसे प्रशस्त रचनाकार हैं जिनका समस्त भारतीय धर्मों एवं दर्शनों पर प्रबल आधिपत्य है। यह जानकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है कि उनकी रचनाओं में जहाँ एक ओर विभिन्न भारतीय विचारधाराओं का तात्त्विक विवेचन है वहीं पर उन विचारधाराओं के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए जैन दृष्टिकोण की भी विशुद्ध व्याख्या है। यह बात योग-निरूपण के प्रसंग में तो शत-प्रतिशत सही है। इसलिए हमने आचार्य हरिभद्र के यौगिक ज्ञान को योग-विज्ञान की संज्ञा प्रदान की है।

जीवनवृत्त एवं सामाजिक अवदान

प्राचीन भारतीय-परम्परा का अनुसरण करते हुए आचार्य हरिभद्र ने अपने विषय में कुछ भी नहीं लिखा है।

आचार्य प्रभाचन्द्र रचित 'प्रभावकचरित'[1] (वि. सं. १३३४), राजशेखर सूरि रचित 'प्रबन्धकोश'[2] (वि. सं. १४०५), 'पुरातनप्रबन्धसंग्रह'[3] आदि प्रबन्धग्रन्थों में आचार्य

---

१. 'प्रभावकचरितम्'—सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद तथा कलकत्ता, ई. १९४०, सम्पादक—मुनिजिनविजयजी, ९ वां प्रबन्ध 'हरिभद्रसूरिचरितम्'

२. 'प्रबन्धकोश:' सिंघी जैन ग्रन्थमाला, १९३५, ८ वां प्रबन्ध 'हरिभद्रसूरिप्रबन्ध:'

३. 'पुरातनप्रबन्धसंग्रह:' सि. जै. ग्रन्थ., १९३६, ५४ वां प्रबन्ध 'हरिभद्रसूरिप्रबन्ध:'

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हरिभद्र के जीवन से सम्बन्धित प्रबन्ध उपलब्ध हैं। आचार्य भद्रेश्वररचित प्राकृत 'कहावली' के अंत में आचार्य हरिभद्र का वृत्तान्त संक्षेप में वर्णित हुआ है।

तदनुसार आचार्य हरिभद्र का जन्म चित्तौड़ (चित्रकूट) में हुआ था। उनके पिता का नाम शंकरभट्ट और माता का नाम गंगा था। वे जन्म से ब्राह्मण थे। बाद में वे राजपुरोहित बने।

आचार्य हरिभद्र ने, आचार्य जिनभट के विद्याधरगच्छ से सम्बन्धित श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में दीक्षा ग्रहण की। उनके दीक्षा-गुरु का नाम जिनदत्त सूरि था। आचार्य के जीवन में जिस व्यक्ति ने महत्तर परिवर्तन किया वह है 'याकिनी महत्तरा' नाम की साध्वी। आचार्य ने इस साध्वी को अपनी धर्ममाता का पद प्रदान किया और सदैव उनके पुत्र के रूप में अपने को उल्लिखित करते रहे।

कहा जाता है कि हरिभद्र ने मेवाड़ के एक बहुत बड़े समुदाय को सम्बोधित कर उसे जैनधर्म में दृढ़ विश्वासी बनाया। वह समुदाय आज 'पोरवाड़' जाति के नाम से प्रसिद्ध है[1]।

समय

आचार्य हरिभद्र के समय की पहेली लगभग हल हो चुकी है। प्रख्यात पुरातत्त्ववेत्ता एवं जैनसाहित्य संशोधक मुनि श्री जिनविजयजी ने अन्तः एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर आचार्य हरिभद्र का समय विक्रम की आठवीं शताब्दी का अंतिम एवं नवमी शताब्दी का प्रारम्भ निश्चित किया है।

प्रायः समस्त भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वान् आचार्य हरिभद्र के इस समय को प्रामाणिक स्वीकार करते हैं। प्रसिद्ध जर्मन भारतविद् प्रो. हर्मन याकोबी ने भी आचार्य हरिभद्र के इस समय को प्रामाणिक रूप में स्वीकार कर लिया है।[2]

कृतियाँ

आचार्य हरिभद्र की कृतियों के परिमाण के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के मन्तव्य प्रचलित हैं। 'प्रबन्धकोश' तथा विजयलक्ष्मी सूरि के 'उपदेशप्रासाद' में १४४० प्रकरणों के, तथा 'प्रभावकचरितम्' में १४०० प्रकरणों के आचार्य हरिभद्र द्वारा रचे जाने के उल्लेख हैं।[3]

अभी लगभग सौ के आसपास छोटे-बड़े ग्रन्थ ज्ञात हो सके हैं जो आचार्य हरिभद्र रचित

---

१. डॉ. छगनलाल शास्त्री, सम्पादक एवं अनुवादक 'समराइच्चकहा' प्रथम खण्ड, प्रकाशक— अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर, १९७६, प्रस्तावना पृ. २

२. १९२६ में 'एशियाटिक सोसा. बंगाल' द्वारा 'Bibliotheca Indica No. 169' के अन्तर्गत प्रकाशित, प्रो. हर्मन याकोबी द्वारा सम्पादित 'समराइच्चकहा' की भूमिका (इन्ट्रोडक्शन)

३. 'प्रभावकचरितम्' का ९ वां प्रबन्ध 'हरिभद्रसूरिचरितम्'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माने जाते हैं। उनमें से भी यदि छटाई की जाय तो प्राप्य-अप्राप्य लगभग पचास ग्रन्थ ऐसे हैं जिन्हें आचार्य हरिभद्र रचित माना जाना शंकास्पद नहीं है।[1]

आचार्य हरिभद्र-रचित ग्रन्थों को सामान्यतः पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. आगम-व्याख्याएँ,
२. कथाकृतियाँ,
३. धर्म व दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थ,
४. योगशास्त्र, एवं
५. अन्य ग्रन्थ।

१- आगम व्याख्याएँ

आचार्य हरिभद्र जैन आगमों पर संस्कृत में टीका लिखने वाले सबसे प्रथम विद्वान् हैं। इनके द्वारा प्रणीत 'आवश्यक-बृहद्वृत्ति' 'दशवैकालिक-बृहद्वृत्ति' आदि आगमिक टीकाएँ प्रसिद्ध हैं।

२. कथाकृतियाँ

आचार्य हरिभद्र रचित स्वतंत्र कथाकृतियों के नाम हैं—'समराइच्चकहा' तथा 'धूर्ताख्यान'।

३. धर्म व दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थ

आचार्य हरिभद्र ने अनेकान्त पर 'अनेकान्तजयपताका', 'अनेकान्तवादप्रवेश'—दोनों सटीक तथा 'अनेकान्तप्रघट्ट' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचे हैं। इनके अतिरिक्त आचार्य हरिभद्र का भारतीय षड्दर्शनों की विवेचना करने वाला एक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'षड्दर्शनसमुच्चय' है। 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' नामक एक दार्शनिक ग्रन्थ भी इनका प्रसिद्ध है। 'धर्मसंग्रहणी' एवं 'लोकतत्त्वनिर्णय' नामक ग्रन्थ भी आचार्यश्री के लिखे हुए प्राप्त होते हैं।

'जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार' नामक ग्रन्थ में आचार्य हरिभद्र रचित दार्शनिक जिन ग्रन्थों का उल्लेख है, वे इस प्रकार हैं—

तत्त्वतरंगिणी, त्रिभंगीसार, न्यायावतारवृत्ति, पंचलिंगी, द्विजवदनचपेटा, परलोकसिद्धि, वेदबाह्यतानिराकरण, सर्वज्ञसिद्धि तथा स्याद्वादकुचोद्यपरिहार।[2]

आचार्यश्री ने प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य दिङ्नाग रचित 'न्यायप्रवेश' पर एक 'न्यायप्रवेश-टीका' भी लिखी है।

४. योगशास्त्र

आचार्य हरिभद्र ने भारतीय योग-विद्या के क्षेत्र में अपूर्व देन दी है। आचार्य श्री के

---

१. डॉ० छगनलाल शास्त्री, 'समराइच्चकहा', प्रस्तावना—पृ० १५
२. पं० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य द्वारा लिखित 'जैनदर्शन', श्री गणेशवर्णी जैन ग्रन्थमाला काशी, १९६६, 'जैन दार्शनिक साहित्य'—पृ० ५८५

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो यौगिक-ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं उनकी संख्या चार है—(१) योगबिन्दु, (२) योगदृष्टि-समुच्चय, (३) योगशतक एवं (४) योगविंशिका। इन चारों ग्रन्थों में प्रथम दो संस्कृतभाषा में, शेष दो प्राकृतभाषा में लिखे गये हैं। यद्यपि 'षोडशक' नामक ग्रन्थ में कुछ प्रकरण योग-विषयक हैं, परन्तु उनका वर्णन उक्त चार ग्रन्थों में समाविष्ट हो जाता है।

'योगबिन्दु' का परिमाण सबसे अधिक है। इसकी श्लोकसंख्या ५२७ है। 'योगदृष्टि-समुच्चय' की श्लोकसंख्या २२८ है। इन दोनों ग्रन्थों की रचना अति प्राचीन एवं प्रसिद्ध संस्कृतछन्द 'अनुष्टुप्' में की गई है।

'योगशतक' की रचना १०१ प्राकृत गाथाओं में तथा 'योगविंशिका' की रचना २० प्राकृत गाथाओं में की गई है। इस प्रकार आचार्य हरिभद्र के इन चारों योग-ग्रन्थों का परिमाण ८७६ श्लोक प्रमाण है।

५. अन्य ग्रन्थ

आचार्य हरिभद्र बड़े क्रान्तिकारी विचारों के साधु-पुरुष थे। उन्होंने अपने समय के चैत्यवासी जैनसाधुओं में व्याप्त शिथिलाचार के विरुद्ध संघर्ष ही नहीं किया अपितु उन्हें संबोधित करने हेतु एक 'सम्बोध-प्रकरण' नाम का ग्रन्थ भी लिखा।

जैनविद्या के प्रसिद्ध अन्वेषक पं० नाथूराम 'प्रेमी' ने आचार्य हरिभद्र के जिन अन्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है वे इस प्रकार हैं—'तत्त्वार्थाधिगम' पर टीका[१] तथा 'ललितविस्तरा'[२] एवं अपभ्रंशभाषा के दो ग्रन्थ 'जसहरचरिऊ'[३] एवं 'नेमिनाथचरिऊ'[४]।

योग-विज्ञान

आत्मविकास के लिए 'योग' एक महत्त्वपूर्ण साधन है। भारतीय संस्कृति के समस्त चिंतकों एवं ऋषि-मुनियों ने योगसाधना के महत्त्व को स्वीकार किया है।

हम यहाँ योग के विभिन्न अर्थ, उनमें परस्पर सामंजस्य, भारतीय यौगिक परम्पराएँ, जैनयोग परम्परा एवं उसमें आचार्य हरिभद्र सूरि के योगदान की चर्चा करेंगे।

योग का अर्थ

'योग' शब्द 'युज्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। संस्कृत व्याकरण में 'युज्' धातु के दो अर्थ हैं—संयोग (जोड़ना)[२] एवं समाधि[३]। भारतीय योगदर्शन में 'योग' शब्द दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। महर्षि पतंजलि ने योग का अर्थ किया है समाधि अर्थात् चित्तवृत्ति का निरोध[४]। प्रायः सभी वैदिक योग-चिन्तकों ने 'योग' का अर्थ समाधि के रूप में किया है। बौद्ध विचारकों ने भी 'योग' का अर्थ समाधि ग्रहण किया है।

---

१. १, २, ३, ४—पं. नाथूराम 'प्रेमी', जैन साहित्य और इतिहास, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्रा. लि. बम्बई, १९५६, पृष्ठ संख्या क्रमशः ५१२, ५७, २३७, ४०८

२. रुधादि गणी 'युज्' धातु, युजिर योगे, सिद्धान्त कौमुदी (रुधादिगण)

३. दिवादिगणी 'युज्' धातु, युज् समाधौ समाधिश्चित्तवृत्तिनिरोधः, सिद्धान्तकौमुदी (दिवादिगण)

४. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः—पातंजल योगसूत्र १।२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य हरिभद्र ने 'योग' का अर्थ 'संयोग' किया है, वे कहते है कि 'मोक्षेण योजनाद् योग:'[१] अर्थात् 'योग' एक सार्थक शब्द है क्योंकि वह आत्मा को मोक्ष से जोड़ देता है।

जैनदर्शन में 'योग' शब्द का अपना एक विशिष्ट अर्थ भी है—

"कायवाङ्मनःकर्म योग:"[२] अर्थात् शरीर, वचन एवं मन की प्रवृत्ति को योग कहते हैं। यह दो प्रकार का है—शुभयोग और अशुभयोग। शुभयोग से पुण्य एवं अशुभ योग से पाप कर्मों का 'आस्रव' होता है। यह दोनों प्रकार का योग कर्मबन्ध का कारण है। अतः मोक्ष प्राप्त करने के लिए योग का निरोध (संवर) करना पड़ता है।[३]

यहाँ 'योग' शब्द को एक विशिष्ट पारिभाषिक शब्द समझना चाहिए, जिसका भारतीय योगदर्शन से सीधा कोई सम्बन्ध नहीं है।

योग के अर्थों में सामंजस्य

वैदिक विचारधारा में 'योग' का अर्थ 'समाधि' एवं जैन विचारधारा में 'योग' का अर्थ 'संयोग' हुआ है। इन दोनों अर्थों को परस्पर भिन्न नहीं मानना चाहिए। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इन दोनों अर्थों में सामंजस्य प्रतीत होता है।

आचार्य हरिभद्र ने 'योगबिन्दु' के प्रारंभ में इसी बात की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखा है—

> **"मोक्षहेतुर्यतो योगो भिद्यते न ततः क्वचित्।**
> **साध्याभेदात् तथाभावे तूक्तिभेदो न कारणम्॥**[४]

अर्थात्—योग, मोक्ष का हेतु है। परम्पराओं की भिन्नता के बावजूद मूलत: उसमें कोई भेद नहीं है। जब योग के साध्य या लक्ष्य में किसी को कोई भेद नहीं है, वह सबको एक समान है, तब उक्तिभेद या विवेचन की भिन्नता वस्तुत: योग में किसी प्रकार का भेद नहीं ला सकती।

समाधि अर्थात् चित्तवृत्ति का निरोध, एक क्रिया है—साधना है। वह निषेधपरक नहीं प्रत्युत विधेयात्मक है। चित्तवृत्ति के निरोध का वास्तविक अर्थ है अपनी संसाराभिमुख चित्तवृत्तियों को रोक कर, साधना को साध्यसिद्धि या मोक्ष के अनुकूल बनाना। जैनविचारक मोक्ष के साथ सम्बन्ध करानेवाली क्रिया—साधना को 'योग' कहते हैं। इस प्रकार 'योग' के दोनों अर्थों में वस्तुत: भेद नहीं किन्तु अभेद समझना चाहिए।[५]

---

१. योगबिन्दु —३१
२. आ. उमास्वाति का तत्त्वार्थसूत्र ६।१
३. "शुभ: पुण्यस्याशुभ: पापस्य," वही ६।२, "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा: बन्धहेतवः", वही ८।१, बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां मोक्षः," वही १०।१
४. योगबिन्दु —३
५. आचार्य हरिभद्रसूरि—'जैनयोगग्रन्थ चतुष्टय' संपादक—डॉ. छगनलाल शास्त्री, मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर, १९८२ में प्रकाशित, उपाध्याय अमरमुनि का निबन्ध—'जैनयोग: एक परिशीलन' पृ० ४३-४४

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

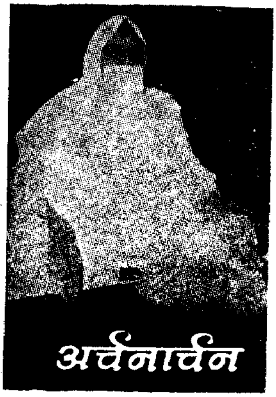

भारतीय यौगिक परम्पराएँ

भारतीय-संस्कृति, तीन धाराओं में प्रवहमान रही है—वैदिक, बौद्ध एवं जैन। इस अपेक्षा से योगसाधना की भी तीन परम्पराएँ हैं—वैदिक, बौद्ध एवं जैन योग परम्परा। तीनों परम्पराओं का अपना स्वतन्त्र चिन्तन एवं मौलिक-विचार है। फिर भी तीनों परम्पराओं के विचारों में भिन्नता के साथ बहुत कुछ साम्य भी है। आगे हम इन्हीं परम्पराओं पर विचार करेंगे।

वैदिक योग-परम्परा

वेद एवं उपनिषद् काल की अपेक्षा षड्दर्शनों में योग की रूपरेखा अधिक स्पष्ट हो गई थी। योगदर्शन तो प्रमुख रूप से योग का विवेचक है ही।

योगदर्शन का आदि ग्रन्थ महर्षि पतंजलि का 'योगसूत्र' है। इसमें जो योग का स्वरूप प्राप्त होता है, वह वैदिक योगपरम्परा का पूरा प्रतिनिधित्व करता है। इसमें योग के आठ अंगों का विवेचन है, जिनका परिपालन करके मानव-जीवन के चरम लक्ष्य कैवल्य-मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है। इन आठ अंगों के नाम इस प्रकार हैं—१ यम, २ नियम, ३ आसन, ४ प्राणायाम, ५ प्रत्याहार, ६ धारणा, ७ ध्यान एवं ८ समाधि।[१]

योग के इन अंगों के भेद-प्रभेदों पर सूक्ष्म विचार करने से यह स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होता हैं कि इनमें और जैनधर्म में प्रतिपादित चारित्र के भेद-प्रभेदों में पर्याप्त साम्य हैं। उदाहरणार्थ—प्रथम योगांग 'यम' के जो पांच भेद महर्षि पतंजलि ने बताए हैं वही पाँच भेद व्रतों के रूप में जैनधर्म में बताए गए हैं। तुलना कीजिए—

"तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।"

पातंजल योगसूत्र २-३०

"हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।"

तत्त्वार्थसूत्र, ७-१

आचार्य हरिभद्र ने भी योग की इस साम्यदृष्टि को ध्यान में रखते हुए पातंजल योग के आठ अंगों से अनुप्राणित आठ योगदृष्टियों का विवेचन 'योगदृष्टिसमुच्चय' में किया है।[२]

बौद्ध योग-परम्परा

बौद्ध साहित्य में योग के स्थान पर 'ध्यान' और 'समाधि' शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। महात्मा बुद्ध ने निर्वाण प्राप्ति के लिए जिस अष्टाङ्गिकमार्ग[३] का उपदेश दिया उसमें आठवें अंग 'समाधि' का विशेष महत्त्व है। उसे 'सम्यक्समाधि' नाम दिया गया है। 'सम्यक्समाधि' को प्राप्त करने के लिए चार प्रकार के 'ध्यान' का भी वर्णन है।[४]

---

१. "यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणासमाधयोऽष्टाङ्गानि।" पातंजल योगसूत्र २।९
२. "मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कान्ता प्रभा परा।
नामानि योगदृष्टिनां लक्षणं च निबोधत॥" योगदृष्टिसमुच्चय १३
३. १-सम्यग्दृष्टि, २-सम्यक्संकल्प ८ सम्यक्समाधि।—संयुक्तनिकाय ५।१०
४. चार प्रकार के ध्यान—१ वितर्क-विचार-प्रीति-सुख-एकाग्रता सहित,
२ प्रीति-सुख-एकाग्रता सहित, ३ सुख-एकाग्रता सहित, ४ एकाग्रता सहित,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्ध साहित्य में आर्य-अष्टांग का वर्णन किया गया है, उसमें शील, समाधि और प्रज्ञा के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[1]

बौद्धों द्वारा स्वीकृत शील में पतंजलि सम्मत यम-नियम का समावेश हो जाता है। बौद्ध साहित्य में पंच शील, वैदिक परम्परा में पांच यम और जैन-परम्परा में पांच महाव्रत प्रायः एक समान हैं। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं यम और महाव्रतों के नाम एक सदृश हैं। पंच शील में प्रथम चार के नाम यही हैं, परन्तु अपरिग्रह के स्थान पर मद्य से निवृत्त होने का उल्लेख है।

बौद्ध-समाधि में योग सूत्र द्वारा वर्णित प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का समावेश हो जाता है। बौद्ध-परम्परा द्वारा मान्य 'प्रज्ञा' और योगसूत्र में वर्णित 'विवेक-ख्याति' में पर्याप्त अर्थसाम्य है।

इस प्रकार बौद्ध साहित्य में वर्णित योग, अन्य परम्पराओं से कहीं शब्द से, कहीं अर्थ से और कहीं प्रक्रिया से साम्य रखता है।[2]

जैन योग-परम्परा

भगवान् महावीर ने साढ़े बारह वर्ष तक मौन रहकर घोर तप, ध्यान और आत्मचिंतन के द्वारा योग-साधना का ही जीवन बिताया था। जैनागमों में वर्णित साध्वाचार-पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति, बारह प्रकार का तप, चार प्रकार का ध्यान आदि जो योग के मुख्य अंग हैं, उन्हें साधुजीवन-श्रमण-साधना का प्राण माना गया है।

जैनदर्शन में योग-साधना के अर्थ में 'ध्यान' शब्द का प्रयोग हुआ है। आचार्य उमास्वाति ने 'ध्यान' का लक्षण किया है—"उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्"[3] अर्थात्—किसी एक विषय में चित्तवृत्ति का निरोध (रोकना) ध्यान है। यह उत्तम संहनन वाले व्यक्ति के केवल अन्तर्मुहूर्त तक हो सकता है। आचार्य ने इसके चार भेद किए हैं—(१) आर्त, (२) रौद्र, (३) धर्म तथा (४) शुक्ल। इनमें प्रथम दो—आर्तध्यान एवं रौद्रध्यान संसार के कारण है तथा अन्तिम दो—धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान मोक्ष के कारण हैं।[4]

इस ध्यान का पातंजल चित्तवृत्तिनिरोधरूप 'समाधि' से सामंजस्य बैठता प्रतीत होता है।

---

१. **शील का अर्थ है**—कुशल धर्म को धारण करना तथा कर्त्तव्य में प्रवृत्ति एवं अकर्तव्य से निवृत्ति।—'विसुद्धमग्ग' १।१९।२५
समाधि का अर्थ है—कुशल चित्त की एकाग्रता —वही, ३।२।३
प्रज्ञा का अर्थ है—कुशल चित्तयुक्त विपश्य-विवेकज्ञान, वही, १४।२।३
२. उपाध्याय अमरमुनि 'जैनयोग एक परिशीलन', पृष्ठ ६४
३. तत्त्वार्थसूत्र—९।२७
४. "आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि" तत्त्वार्थसूत्र ९।२८
"परे मोक्षहेतू"—वही ९।२९

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य हरिभद्र सूरि का योग-विज्ञान और जैन योग के आचार्य

आचार्य हरिभद्र जैन योग के सबसे प्रथम आचार्य हैं। उन्होंने जैन योग पर जिन चार ग्रन्थों की रचना की, उनका उल्लेख हम पहिले कर चुके हैं।

आचार्य हरिभद्र के योग-विज्ञान को जिन आचार्यों ने आगे बढ़ाया, उनमें प्रमुख आचार्य हैं—हेमचन्द्र, शुभचन्द्र एवं उपाध्याय यशोविजय। आचार्य हेमचन्द्र (विक्रम की १२ वीं शताब्दी) ने अपने 'योगशास्त्र' नामक ग्रन्थ में पातंजल अष्टांग योग के क्रम से गृहस्थ एवं साधुजीवन की आचार-साधना का जैन-दृष्टि से वर्णन किया है। आचार्य शुभचन्द्र ने 'ज्ञानार्णव' (सर्ग २९ से ४२ तक) में प्राणायाम, ध्यान आदि यौगिक विषयों के स्वरूप एवं भेदों का जैनशास्त्रीय दृष्टि से वर्णन किया है।

उपाध्याय यशोविजय ने **'अध्यात्मसार'**, 'अध्यात्मोपनिषद्' और सटीक बत्तीस **'बत्तीसियां'** लिखी हैं, जिनमें जैन-योग की विवेचना है। उपाध्यायजी का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है आचार्य हरिभद्र की 'योगविंशिका' एवं 'षोडशक' पर लिखी टीकाएँ। हम निःसंकोच यह कह सकते हैं कि उपाध्याय यशोविजय ने आचार्य हरिभद्र की समन्वयात्मक जैन-योगदृष्टि को पल्लवित-पुष्पित कर उसे आगे बढ़ाया।[1]

आचार्य हरिभद्र के योग-ग्रन्थों का विषय-विवेचन

आचार्य हरिभद्र के योग-विषयक चार ग्रन्थ हैं—(१) योगबिन्दु, (२) योगदृष्टिसमुच्चय, (३) योगशतक एवं (४) योगविंशिका। इन चारों के विषयों का हम संक्षेप में विवेचन करते हैं—

१. योगबिन्दु

योग की निरुक्ति एवं उसकी पाँच भूमिकाएँ—ग्रन्थ के प्रारम्भ में आचार्य योग की निरुक्ति पर विचार करते हुए, उसके क्रमिक विकास की पांच भूमिकाओं पर प्रकाश डालते हैं। वे कहते हैं कि 'मोक्षेण योजनाद् योगः' अर्थात् योग एक सार्थक शब्द है, क्योंकि वह आत्मा को मोक्ष से जोड़ देता है।

आत्मा के मोक्ष से योजन की इस प्रक्रिया में पांच बातों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है—(१) अध्यात्म, (२) भावना, (३) ध्यान, (४) समता एवं (५) वृत्तिसंक्षय।

अध्यात्म-आत्मानुभूति, भावना-आत्मानुभूति का बार-बार चिंतवन, ध्यान-चित्त की एकाग्रता, समता-इष्टानिष्ट पदार्थों के विषय में तटस्थवृत्ति तथा वृत्तिसंक्षय-विजातीय द्रव्य से उत्पन्न चित्तवृत्तियों का समूल नाश—ये पांचों उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।[2]

आचार्य हरिभद्र ने इन पांचों में से प्रथम चार भूमिकाओं की पांतजल-योगसूत्र में वर्णित संप्रज्ञातसमाधि से एवं अन्तिम पांचवीं भूमिका की असंप्रज्ञातसमाधि से तुलना की है।

---

१. उपाध्याय अमरमुनि 'जैनयोग: एक परिशीलन', पृष्ठ ७२।७४

२. अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।
मोक्षेण योजनाद् योगः एष श्रेष्ठो यथोत्तरम्॥ —योगबिन्दु ३१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग के छह भेद—इसके पश्चात् योग के छह भेदों का विवेचन है—(१) तात्त्विक, (२) अतात्त्विक, (३) सानुबन्ध, (४) निरनुबन्ध, (५) सास्रव एवं (६) अनास्रव।

योग का यथाविधि अनुसरण, तात्त्विक योग है। केवल लोकरंजनार्थ योग का प्रदर्शन अतात्त्विक योग है। लक्ष्य प्राप्त करने तक अविच्छिन्न गतिमान् सानुबन्ध योग है। जिसमें बीच-बीच में गतिरोध आता रहता है, वह निरनुबन्ध योग है। जो संसार-परिभ्रमण को दीर्घ बनाता है वह सास्रव योग है। जो संसार-परिभ्रमण को समाप्त करता है, वह 'अनास्रव योग' है।

वस्तुतः ये छह भेद योग की भिन्न भिन्न अवस्थाओं के सूचक हैं।[1]

योग-माहात्म्य—इसके बाद योग के माहात्म्य की चर्चा है—

> **योगः कल्पतरुः श्रेष्ठो योगश्चिन्तामणिः परः।**
> **योगः प्रधानं धर्माणां योगः सिद्धेः स्वयंग्रहः॥"[2]**

यहाँ आचार्य ने योग की सर्वार्थसाधक कल्पवृक्ष एवं चिन्तामणि से तुलना करते हुए उसे समस्त धर्मों में प्रधान एवं सिद्धि-मुक्ति का अनन्य हेतु बताया है।

आगे आचार्य कहते हैं कि योग न केवल सांसारिक दुःखों से अपितु जन्म-मरण के दुःखों से भी छुटकारा दिलाकर निर्वाण की प्राप्ति करा देता है।[3] इस प्रसंग में आचार्य ने एक महत्त्वपूर्ण बात कही है—योगाभ्यासी पुरुष के लिए योग के प्रभाव से ऐसे उत्तम स्वप्न आते हैं, जिससे उसके सभी प्रकार के संदेह दूर हो जाते हैं।[4] यहाँ तक कि इष्टदेव के दर्शन भी उसे हो जाते है।[5]

आगे कहा गया है कि धैर्य, श्रद्धा, मैत्री, लोकप्रियता, तत्त्वज्ञान, द्वन्द्वसहिष्णुता, क्षमा, सदाचार, गौरव, परम शान्ति की अनुभूति जैसे दुर्लभ मानवीय गुण भी योग से प्राप्त हो जाते हैं।

योग के अधिकारी

जो जीव चरमपुद्गलावर्त में स्थित है, अर्थात् जिसका संसारस्थिति-काल मर्यादित हो गया है, शुक्लपाक्षिक है अर्थात् मोहनीय कर्म के तीव्र भावरूप अन्धकार से रहित है, भिन्न-ग्रन्थि है अर्थात् जिसने मिथ्यात्व-ग्रन्थि का भेदन कर लिया है, एवं चारित्री है अर्थात् चारित्र पालन के पथ पर आरूढ है, वह योग का अधिकारी है।[7] ऐसा व्यक्ति योगसाधना के द्वारा अनादिकाल से चले आ रहे भवभ्रमण का अन्त कर देता है।[8]

---

१. तात्विको भूत एव स्यादन्यो लोकव्यपेक्षया।
 अच्छिन्नः सानुबन्धस्तु छेदवानपरो मतः॥
 सास्रवोः दीर्घसंसारस्ततोऽन्योऽनास्रवः परः,
 अवस्थाभेदविषयाः संज्ञा एता यथोदिताः॥—योगबिन्दु ३३-३४

२. योगबिन्दु ३७। ३. वही, ३८। ४. वही-४२, ५. वही ४३

६. योगबिन्दु —५२-५४

७. "चरमे पुद्गलावर्ते यतो यः शुक्लपाक्षिकः।
 भिन्नग्रन्थिश्च चरित्री तस्यैवैतदुदाहृतम्॥" —योगबिन्दु ७२

८. वही ९९

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके विपरीत जो अचरमपुद्गलावर्त में स्थित हैं, वे मोहकर्म की प्रबलता के कारण संसार में, काम-भोगों में आसक्त बने रहते हैं। अतः ये योग के अधिकारी नहीं हैं। आचार्य ने उन्हें 'भवाभिनन्दी' की संज्ञा से सम्बोधित किया है।[1]

योग के अधिकारी जीवों को आचार्य ने चार भागों में विभक्त किया है—१. अपुनर्बंधक, २. भिन्नग्रन्थि, ३. सम्यग्दृष्टि (बोधिसत्व) तथा ४. चारित्री।

अपुनर्बंधक—जो 'भवाभिनन्दी' जीव में पाए जाने वाले दोषों के प्रतिकूल गुणों से युक्त होता है एवं अभ्यास द्वारा उत्तरोत्तर गुणों का विकास करता जाता है, वह अपुनर्बंधक होता है। वह गुरुजनों तथा देवों का पूजन, सदाचार, तप, मुक्ति से अद्वेष रूप 'पूर्व सेवा' का आराधक होता है।[2]

भिन्नग्रन्थि—जिसकी अज्ञानजनित मोहरागात्मक ग्रन्थि भिन्न हो जाती है, ऐसे सत्पुरुष का चित्त मोक्ष में रहता है और देह संसार में। उसके जीवन की समस्त प्रक्रिया योग में समाविष्ट रहती है।[3]

सम्यग्दृष्टि (बोधिसत्व)—ग्रन्थिभेद हो जाने पर जीव सम्यग्दृष्टि हो जाता है। उसमें प्रशम आदि गुण विशेषरूप से प्रकट हो जाते हैं। यथाशक्ति धर्मतत्त्व सुनने की इच्छा, धर्म के प्रति अनुराग, गुरु तथा देवादि की पूजा—ये उसके लक्षण हैं।[4]

अन्तर्विकास की दृष्टि से इस अवस्था तक पहुँचा पुरुष बौद्धपरम्परा में "बोधिसत्व" कहा जाता है। ऐसे पुरुष "बोधिसत्त्व" के समान कायपाती तो होते हैं, चित्तपाती नहीं।[5] जो उत्तम बोधि से युक्त होता है, भव्यता के कारण अपनी मोक्षाभिमुख यात्रा में आगे चलकर 'तीर्थंकर' पद प्राप्त करता है, वह "बोधिसत्त्व" है।[6]

चारित्री—सदनुष्ठान में प्रवृत्त साधक के जब परिमित कर्म विनिवृत्त हो जाते हैं, तब वह चारित्री होता है।[7] अध्यात्मपथ का अनुसरण, श्रद्धा, धर्म-श्रवण में अभिरुचि आदि चारित्री के लक्षण हैं।[8]

अनुष्ठान के पाँच भेद

प्रस्तुत ग्रन्थ में पांच अनुष्ठानों का भी वर्णन किया गया है—१. विष, २. गर, ३. अनुष्ठान, ४. तद्धेतु एवं ५. अमृत।[9]

१. "भवाभिनन्दिनो प्रायस्त्रिसंज्ञा एव दुःखिताः ॥" —योगबिन्दु ८६
"अज्ञो भवाभिनन्दी स्यान्निष्फलारम्भसंगतः ॥" —वही ८७
२. योगबिन्दु १७८-१७९
३. "भिन्नग्रन्थेस्तु यत् प्रायो मोक्षे चित्तं भवे तनु ॥" —वही २०
४. "सम्यग्दृष्टिर्भवत्युच्चैः प्रशमादिगुणान्वितः ।"—वही २५२, २५३
५. "अयमस्यामवस्थायां बोधिसत्वोऽभिधीयते ।" —वही २७०, २७१
६. "वरबोधिसमेतो वा तीर्थंकृद्यो भविष्यति ।" —वही २७४
७. वही ३५२
८. वही ३५३
९. वही १५५—"विषं गरोऽनुष्ठानं तद्धेतुरमृतं परम् ।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस अनुष्ठान के पीछे चमत्कार-शक्ति प्राप्त करने का भाव रहता है, वह 'विष' है।[1] जिस अनुष्ठान के साथ दैनिक भोगों की अभिलाषा जुड़ी रहती है, वह 'गर' है।[2] संप्रमुग्ध मनवाले व्यक्ति द्वारा बिना किसी उपयोग के जो क्रिया की जाती है, वह 'अनुष्ठान' है।[3] पूजा, सेवा, व्रत आदि के प्रति मन में राग का भाव, जिससे प्रेरित होकर व्यक्ति सदनुष्ठान में प्रवृत्त होता है, योग का उत्तम हेतु होने से 'तद्धेतु' कहा जाता है।[4] जिस अनुष्ठान के साथ साधक के मन में मोक्षोन्मुख आत्मभाव तथा भववैराग्य की अनुभूति जुड़ी रहती है और साधक यह आस्था लिए रहता है कि यह अर्हत् प्रतिपादित है, उसे 'अमृत' कहा गया है।[5]

इन पांचों अनुष्ठानों में से प्रथम तीन "असदनुष्ठान" हैं तथा अन्तिम दो "सदनुष्ठान" हैं। योग के अधिकारी व्यक्ति को "सदनुष्ठान" ही होता है।

२. योगदृष्टिसमुच्चय

आचार्य हरिभद्र का यह दूसरा यौगिक ग्रन्थ है। यह आध्यात्मिक विकासक्रम, परिभाषा, वर्गीकरण, शैली आदि की अपेक्षा 'योगबिन्दु' से अलग दिखाई देता है।

योग के तीन भेद—ग्रन्थ के प्रारम्भ में योग के तीन भेद किये गये हैं—१. इच्छायोग, २. शास्त्रयोग तथा ३. सामर्थ्ययोग।[6]

धर्मसाधना में प्रवृत्त होने की इच्छा से साधक का प्रमाद के कारण जो विकल धर्म-योग है, उसे 'इच्छायोग' कहा गया है। जो धर्मयोग शास्त्र के अनुसार हो उसे 'शास्त्रयोग' कहते हैं। यह अप्रमाद के कारण अविकल-धर्मयोग होता है। जो धर्मयोग आत्मशक्ति के विशिष्ट विकास के कारण शास्त्रमर्यादा से भी ऊपर उठा हुआ हो, उसे 'सामर्थ्ययोग' कहते हैं।[7] सत् श्रद्धा से युक्त बोध को 'दृष्टि' कहा गया है—(योगदृष्टिसमुच्चय १७)

आठ योगदृष्टियां—सबसे पहले दृष्टि के दो भेद किए हैं—'ओघदृष्टि' तथा 'योगदृष्टि'। अचरमपुद्गलावर्त-अज्ञानकाल की अवस्था को 'ओघदृष्टि' कहा गया है। 'ओघदृष्टि' में प्रवर्तमान 'भवाभिनन्दी' का वर्णन योगबिन्दु के वर्णन जैसा ही है।[8]

'ओघदृष्टि' से ऊपर उठकर साधक 'योगदृष्टि' में प्रवेश करता है।

---

१. "विषं लब्ध्याद्यपेक्षात इदं सच्चित्तमारणात्।" —योगबिन्दु १५६
२. वही—१५७ "दिव्यभोगाभिलाषेण गरमाहुर्मनीषिणः"
३. "अनाभोगवतश्चैतदननुष्ठानमुच्यते। संप्रमुग्धं मनोऽस्येति"—योगबिन्दु १५८
४. "एतद्रागादिकं हेतुः श्रेष्ठो योगविदो विदुः"—वही १५९
५. "जिनोदितमिति त्वाहुर्भावसारमदः पुनः।
संवेगगर्भमत्यन्तममृतं मुनिपुङ्गवाः॥" —वही १६०
६. योगदृष्टिसमुच्चय २, "इहैवेच्छादियोगानां स्वरूपमभिधीयते।"
७. वही ३-५
८. वही १४—"ओघदृष्टिरिह ज्ञेया मिथ्यादृष्टीतराश्रया।"

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रारम्भिक अवस्था से लेकर विकास की चरम अवस्था तक की भूमिकाओं के, कर्ममल के तारतम्य की अपेक्षा से इन योगदृष्टियों के आठ भेद हैं—१. मित्रा, २. तारा, ३. बला, ४. दीप्रा, ५. स्थिरा, ६. कान्ता, ७. प्रभा एवं ८. परा।[१]

ये आठ विभाग तथा इनका वर्णन पातंजल-योगसूत्र में वर्णित क्रमशः यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा एवं समाधिरूप योग के आठ अंग तथा बौद्धपरम्परा के खेद, उद्वेग आदि पृथग्जनगत अष्टदोषपरिहार और अद्वेष, जिज्ञासा आदि अष्टयोग-गुणों के आधार पर किया गया है।[२] उदाहरणार्थ प्रथम 'मित्रादृष्टि' का स्वरूप देखिए—

> **"मित्रायां दर्शनं मन्दं यम इच्छादिकस्तथा।**
> **अखेदो देवकार्यादावद्वेषश्चापरत्र तु॥"**[3]

अर्थात्—'मित्रादृष्टि' के प्राप्त होने पर जीव, दर्शन—सत्श्रद्धाभाव की मन्दता लिए रहता है, योग के प्रथम अंग 'यम' के प्रारम्भिक अभ्यास 'इच्छायम' आदि को प्राप्त कर लेता है, देवकार्यादि में अखेदभाव से लगा रहता है तथा जो देवकार्यादि नहीं करते उनके प्रति द्वेष नहीं करता।

इन आठ योगदृष्टियों में प्रथम चार दृष्टियां प्रतिपातयुक्त हैं अर्थात् साधक इन्हें प्राप्त कर इनसे भ्रष्ट भी हो सकता है। शेष चार दृष्टियां प्रतिपातरहित हैं।[४]

योगी के चार प्रकार—आचार्य ने योगी के चार प्रकार बताए हैं—१. गोत्रयोगी, २. कुलयोगी, ३, प्रवृत्तचक्रयोगी एवं ४. निष्पन्नयोगी।[५] इन चारों में से प्रथम 'गोत्रयोगी' में योगसाधना का अभाव होने के कारण वह योग का अधिकारी नहीं है। इसी प्रकार चतुर्थ 'निष्पन्नयोगी' भी चूंकि अपनी साधना को सिद्ध कर चुका है, अतः उसे योग की आवश्यकता नहीं रहती। शेष दो योगी—'कुलयोगी' एवं 'प्रवृत्तचक्रयोगी' ही वस्तुतः योग के अधिकारी हैं।[६]

योग से अयोग—निर्वाण की प्राप्ति—योग के द्वारा उसके चरम लक्ष्य—निर्वाण की प्राप्ति कैसे होती है, इसका उल्लेख करते हुए आचार्य कहते हैं—"ज्ञानावरणादि चार घातिकर्म बादल के समान हैं। जब ये पूर्वोक्त योगरूपी वायु के आघात से हट जाते हैं तब आत्म-लक्ष्मी-समुपेत साधक, ज्ञानकेवली—सर्वज्ञ हो जाता है।"[७]

"इसके पश्चात् वह परम पुरुष, अयोग—मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के सम्पूर्ण अभाव

---

१. योगदृष्टिसमुच्चय १३,१८

२. "यमादियोगयुक्तानां खेदादिपरिहारतः।
अद्वेषादिगुणस्थानं क्रमेणैषा सतां मता॥" —वही १६

३. वही २१

४. वही १९

५. वही २०८

६. "कुलचक्रप्रवृत्ता ये त एवास्याधिकारिणः।" —वही २०९

७. योगदृष्टिसमुच्चय १८४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा—जो योग की सर्वोत्तम दशा है, शीघ्र ही संसाररूप व्याधि का क्षय करके परम निर्वाण को प्राप्त कर लेता है:—

> "तत्र द्रागेव भगवानयोगाद्योगसत्तमात् ।
> भवव्याधिक्षयं कृत्वा निर्वाणं लभते परम् ।।"[१]

इस प्रकार 'योगदृष्टिसमुच्चय' में अष्टाङ्गयोग, योग एवं योगियों के वर्गीकरण तथा अयोग से योग के चरमलक्ष्य की प्राप्ति के निरूपण में नवीनता है ।

३. योगशतक

प्रस्तुत ग्रन्थ विषय-निरूपण की दृष्टि से 'योगबिन्दु' के अधिक निकट है । 'योगबिन्दु' में वर्णित अनेक विषयों का 'योगशतक' में संक्षेप में वर्णन किया गया है ।

योग के भेद—ग्रन्थ के प्रारम्भ में योग का स्वरूप दो प्रकार का बताया गया है—निश्चय और व्यवहार । सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, एवं सम्यक्चारित्र—इन तीनों का आत्मा के साथ संबंध होना 'निश्चययोग' है ।[२] कारण में कार्य के उपचार की दृष्टि से, सम्यग्दर्शनादि के तत्त्वार्थ-श्रद्धानादि[3] कारणों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना 'व्यवहारयोग' है ।

योग-साधना के अधिकारी और अनधिकारी का वर्णन 'योगबिन्दु' के समान किया गया है । चरमपुद्गलावर्त में प्रवर्तमान योग-अधिकारी का वर्णन तथा अपुनर्बंधक, सम्यग्दृष्टि आदि का वर्गीकरण 'योगबिन्दु' के समान है ।[४]

नवाभ्यासी की चर्या—योग-साधना के नवाभ्यासी को भावना, शास्त्रपाठ, तीर्थसेवन, शास्त्रश्रवण, तदर्थज्ञान, सूक्ष्मतापूर्वक आत्मप्रेक्षण तथा अपने दोषों के अवलोकन में अभिरत रहना चाहिए ।[५]

चिन्तन के दो प्रकार—योगसाधक के चिन्तन के दो प्रकार बताए गए हैं—१. दोष-चिन्तन तथा २. सच्चिन्तन ।

आसक्तिरूप राग, अप्रीतिरूप द्वेष तथा अज्ञानरूप मोह—इनमें से मुझे अत्यधिक रूप से कौन पीड़ा दे रहा है ? यह समझकर दोषों के विषय में उनके स्वरूप, परिणाम, विपाक आदि का एकान्त में एकाग्र मन से भलीभाँति चिन्तन 'दोष-चिन्तन' है ।[६]

परमसंविग्न साधक प्राणिमात्र के प्रति मैत्री, गुणाधिकों में प्रमोद, दुःखियों के प्रति कारुण्य एवं अविनीतजनों के प्रति जो माध्यस्थ भाव का चिन्तन करता है वह 'सच्चिन्तन' है ।[७]

---

१. योग दृष्टि समुच्चय १८६
२. योगशतक २—"निच्छयओ इह जोगो सन्नाणाईण तिण्ह सम्बन्धो" ।
३. वही ४ "ववहारओ य एसो विन्नेओ एयकारणाणंपि" ।
४. वही ९, १४,१५.
५. योगशतक ५१-५२
६. वही ५९-६०
७. "सत्तेसु ताव मेत्ति तहा पमोयं गुणाहिएसुं ति ।
करुणा मज्झत्थत्ते किलिस्समाणाविणीएसु ।।" —वही ७९ तथा ७८

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यौगिक लब्धियां—योग के प्रभाव से योगी को स्वतः अद्भुत लब्धियां—'रत्न', 'अणिमा', 'आमोसहि' आदि प्राप्त होती हैं। योगसूत्रकार पतंजलि ने इन्हें 'विभूति' कहा है। बौद्ध-परम्परा में ये 'अभिज्ञाएं' कही गई हैं। जैन-परम्परा में इनका नाम 'लब्धि' है।[1]

'रत्नलब्धि' का अर्थ है, पृथ्वी में स्थित रत्न आदि का प्रत्यक्षीकरण।[2] 'अणिमालब्धि' का अर्थ है, अणुसदृश रूप धारण करने की शक्ति।[3] 'आमोसहि लब्धि' का अर्थ है, स्पर्श मात्र से रोग दूर करने की शक्ति।[4]

आहार—साधक के आहार की चर्चा करते हुए उसे सर्वसंयत्करी भिक्षा का विधान बताया गया है। आचार्य ने भिक्षा की उस व्रणलेप से तुलना की है जो फोड़े-फुंसी पर उनके शमन हेतु उचित मात्रा में लगाया जाता है। इसी प्रकार भिक्षा को परिमित मात्रा में ग्रहण करने की आवश्यकता पर बल दिया गया है, अन्यथा भिक्षा के सदोष होने से योग भी सदोष हो जावेगा।[5]

कालज्ञान, देहत्याग तथा भवविरह—आचार्य ने 'योगशतक' के अन्त में साधक के, आगम, देवी संकेत, प्रतिभा, आभास, स्वप्न आदि के द्वारा मृत्यु-समय के ज्ञान का उल्लेख किया है।[6]

आचार्य कहते हैं—"जिसका चित्तरूप रत्न अत्यन्त निर्मल है ऐसा योगी अपना अन्त समय निकट जानकर विशुद्ध अनशन विधि से देह का त्याग करे।"[7]

'भवविरह' आचार्य हरिभद्र अन्त में कहते हैं कि जो योगी सम्पूर्ण जीवन योग-साधना के पश्चात् उपर्युक्त विधि से देहत्याग करता है वह भवविरह-सिद्ध अवस्था को प्राप्त करता है—

"ता इय आणाजोगी जइयव्वमजोगयत्थिणा सम्मं।
ऐसो च्चिय भवविरहो सिद्धीए सया अविरहो य॥"[8]

४. योगविंशिका

प्रस्तुत ग्रन्थ में केवल बीस प्राकृत गाथाएँ हैं, जिनमें संक्षेप में योग-साधना का वर्णन करते हुए योग के अस्सी भेदों पर प्रकाश डाला गया है।

योग का अर्थ—ग्रन्थ के प्रारम्भ में आचार्य ने दो महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं—प्रथम यह कि मोक्ष से जोड़ने के कारण समस्त धर्म-व्यापार 'योग' है। द्वितीय यह कि प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रसङ्ग में 'योग' शब्द से आसन, व्यायाम आदि का अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए।[9]

---

१. योगशतक—८३-८४
२. ३. 'अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।' —योगसूत्र २।३७ —यो० सू० ३।४५
४. 'जैन योगग्रन्थ चतुष्टय'—योगशतक के ८४वें श्लोक की हिन्दी टीका देखिए।
५. योगशतक ८१-८२
६. ७. ८. योगशतक क्रमशः ९७, ९६ तथा १०१
९. "मोक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो।
परिसुद्धो विन्नेओ ठाणाइगओ विसेसेणं॥" —योगविंशिका १

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग के प्रथम पांच भेद—१. स्थान, २. ऊर्ण, ३. अर्थ, ४. आलम्बन एवं ५. अनालम्बन—योग के ये पांच भेद हैं। इनमें प्रथम दो भेदों—स्थान एवं ऊर्ण का सम्बन्ध कर्म से है, अतः ये दो 'कर्मयोग' हैं। शेष तीन भेदज्ञान से सम्बद्ध होने के कारण 'ज्ञानयोग' हैं।[1]

'स्थान' का अर्थ है पद्मासन, कायोत्सर्ग आदि आसन। योगाभ्यास के समय प्रत्येक क्रिया के साथ जिन सूत्रों का उच्चारण किया जाता है उन्हें 'ऊर्ण' कहते हैं। 'अर्थ' से तात्पर्य है उपर्युक्त सूत्रों के अर्थबोध का प्रयत्न। ध्यान में बाह्यसूतीक आदि का आधार 'आलम्बन' है। ध्यान में रूपात्मक पदार्थों का सहारा न लेना 'अनालम्बन' कहा गया है। यह निर्विकल्प समाधि रूप है।

योग के पुनः चार भेद—उपर्युक्त पांच भेदों में प्रत्येक के पुनः चार भेद किये हैं—१. इच्छा, २. प्रवृत्ति, ३. स्थिरता एवं ४. सिद्धि। तात्त्विक दृष्टि से ये योग की चार-चार कोटियां उसके क्रमिक विकास की स्थितियां हैं।

योगाराधक पुरुषों की कथा में प्रीति 'इच्छा' है। उपशमभाव पूर्वक योग का यथार्थतः पालन 'प्रवृत्ति' है। बाधाजनित विघ्नों की चिन्ता से रहित योग का सुस्थिर परिपालन 'स्थिरता' है। योग के स्थानादि पांच रूप उस योगी के सम्पर्क में आने वाले अन्यान्य लोगों को भी सहज रूप में उत्प्रेरित करें, उसे 'सिद्धियोग' कहा जाता है।

इस प्रकार योग के बीस भेद हुए।[2]

अनुष्ठान के चार भेद—उपर्युक्त बीस प्रकार का योग अनुष्ठान के भेद से पुनः निम्न प्रकार चार रूपों में विभक्त होकर अस्सी प्रकार का हो जाता है। अनुष्ठान के चार भेद इस प्रकार हैं—१. प्रीति, २. भक्ति, ३. आगम तथा ४. असंगता।[3]

अन्यान्य क्रियाओं को छोड़कर केवल योग क्रिया में तीव्र रति होना 'प्रीति' है। आलम्बनात्मक विषय के प्रति विशेष आदरबुद्धि 'भक्ति' है। शास्त्रानुसार यौगिक प्रवृत्ति का होना 'आगम' है। संस्कारों की दृढ़ता से यौगिक प्रवृत्ति करते समय शास्त्र-स्मरण की कोई अपेक्षा ही न रहे, धर्म जीवन में एकरस हो जाय, वह 'असंगता' की स्थिति है।

योगी की साधना का परम लक्ष्य—आचार्य योग के चरम लक्ष्य की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि इस आलम्बन योग के सिद्ध हो जाने पर मोहसागर तीर्ण हो जाता है, क्षपक श्रेणी प्रकट हो जाती है, केवलज्ञान उद्‌भासित हो जाता है तथा अयोग अर्थात् प्रवृत्ति मात्र के अभावरूप योग के सध जाने से योगी अपने चरमलक्ष्य परम निर्वाण को प्राप्त कर लेता है—

> **"एयम्मि मोहसागरतरणं सेढी य केवलं चेव।**
> **तत्तो अजोगजोगो कमेण परमं च निव्वाणं॥"** —योगविंशिका २०

---

१. ठाणुन्नत्थालंबण-रहिओ तन्तम्मि पंचहा एसो।
दुगमित्थकम्मजोगो तहा तियं नाणजोओ उ॥ —योगविंशिका २

२. योगविंशिका ४-६

३. वही १८

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय योग-दर्शन के लिए आचार्य हरिभद्र की देन

भारतीय षड्दर्शनों में योग एक महत्त्वपूर्ण दर्शन है। अन्य दर्शनों के समान योग का भी चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। वैदिक, बौद्ध एवं जैन—इन तीनों भारतीय परम्पराओं ने अपनी-अपनी दृष्टि से योग का विकास किया है।

आचार्य हरिभद्र विक्रम की ८ वीं, ९ वीं शताब्दी के महत्त्वपूर्ण दार्शनिक एवं साहित्यकार हैं। उन्होंने तुलनात्मक योग-विज्ञान के क्षेत्र में अतिशय योगदान किया है।[1] हमने उनके द्वारा रचित योग-दर्शन के ग्रन्थों का जो अनुशीलन उपस्थित किया है, उससे आचार्य हरिभद्र की भारतीय योगदर्शन के लिए अद्भुत देन प्रतीत होती है। हम यहाँ संक्षेप में उसका वर्णन उपस्थित करते हैं—

१. यद्यपि प्राचीन जैन आगमों में योग-विद्या के सूत्र बिखरे रूप में पाए जाते हैं, किन्तु उन्हें एकत्र कर योग-विद्या का नाम देकर ग्रन्थ के रूप में उपस्थित करने का सबसे प्रथम श्रेय आचार्य हरिभद्र सूरि को है।

२. आचार्य हरिभद्र सूरि ने अपने योगविषयक ग्रन्थों में जिन महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख किया है, वे इस प्रकार हैं—

(क) जैनदृष्टि से योग की परिभाषा, स्वरूप, भेद एवं उसका चरम लक्ष्य निर्वाण प्राप्ति।

(ख) योग के अधिकारी और अनधिकारी का वर्णन।

(ग) योग की साधना का स्वरूप।

(घ) योग-साधना के अनुसार साधकों का वर्गीकरण, स्वरूप एवं अनुष्ठान।

(ङ) योग-साधना के उपाय—साधन और भेदों का वर्णन।

३. आचार्य ने योग की आठ दृष्टियों में प्रारंभ से लेकर अन्त तक की समस्त जैन आचार-परम्परा का समावेश कर योग को पूर्णतः जैनधर्म से अभिन्न स्वरूप प्रदान किया है।

४. आचार्य हरिभद्र सूरि ने अपने ग्रन्थों में जो योग के स्वरूप, उद्देश्य, प्रक्रिया आदि का वर्णन किया है, उससे जैन योगदर्शन नामक एक विशिष्ट दर्शन के स्वरूप की स्थापना उद्बुद्ध हुई है।

५. पश्चाद्वर्ती अनेक आचार्यों ने, जिनमें आचार्य हेमचन्द्र, आचार्य शुभचन्द्र एवं उपाध्याय यशोविजय के नाम प्रमुख हैं, आचार्य हरिभद्र सूरि के जैन योगदर्शन का अनुसरण कर उसे विविधरूप में पल्लवित एवं पुष्पित किया है।

६. वर्तमान समय में आचार्य तुलसीगणि, युवाचार्य महाप्रज्ञ आदि मनीषियों द्वारा जो जैनयोग की साधना एवं उसका प्रचार-प्रसार किया जा रहा है, उसके लिए हमें निःसंदेह

---

१. देखिए डॉ० नथमल टांटिया, एम० ए०, डी० लिट् का निबन्ध "आचार्य हरिभद्र कम्पेरेटिव स्टडीज इन योग" ग्रन्थ—आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि स्मारक ग्रन्थ, प्रकाशक—श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९५६ अंग्रेजी विभाग, पृ. १२९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य हरिभद्र सूरि का ऋणी होना चाहिए, जिन्होंने जैन योग पर ग्रन्थ लिखकर मार्गदर्शन किया।

इस प्रकार आचार्य श्री हरिभद्र सूरि ने योग की प्राचीन जैन परम्परा का न केवल उद्धार किया, अपितु उसे एक अभिनव स्वरूप प्रदान कर भारतीय योगदर्शन-परम्परा के समक्ष खड़ा कर गौरवान्वित किया है। इसे मैं आचार्यश्री का भारतीय संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में ऐसा महत्त्वपूर्ण योगदान मानता हूँ, जिसे इतिहास कभी विस्मृत नहीं कर सकेगा।

मानद निदेशक अनेकान्त शोधपीठ,
बाहुबली-उज्जैन,
१५, एम. आई, जी, मुनिनगर
उज्जैन

आसमस्थ तम
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org